

गाली देना बुरी बात है, मगर...

भारत की युवा पीढ़ी ने देशभर में अपने भविष्य के लिए जो संघर्ष पिछले महीने किया और जिसके आगे के मंसूबे अभी तैयार हो रहे हैं, उसने कई तरह की बहसें चलाई हैं; कुछ पुरानी हैं जो एक मर्तबा फिर चल पड़ी हैं और कुछ नई। इस पूरे आंदोलन का एक गुणा-भाग यह है कि सत्ता पक्ष के पास से कोई ऐसा तुरूप का इक्का नहीं निकला जिससे छात्रों और युवाओं की गंभीर समस्याओं को भी 'फ़िक्क' की तरह 'धुएँ' में उड़ा दिया जाता। तो सरकारी घमण्ड कुछ चटखा ज़रूर, पर टूटा नहीं। अजी, वो घमण्ड ही क्या जो टूट जाए! इसलिए कटी हुई नाक पर से ध्यान हटाने के लिए मुँह पर पुती कालिख का ज़िक्र शुरू कर दिया गया। जेन-ज़ी को धर पाने में जब केंद्र सरकार का कोई और हथकंडा कामयाब नहीं हुआ तो बात उनकी प्रतिरोध की 'भाषा' पर लाकर भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने हिज्जे लगाना शुरू कर दिया।

पिछले कुछ दिनों में एक बहस खड़ी की गई कि जेन-ज़ी प्रदर्शनकारियों ने प्रधानमंत्री सहित सत्तापक्ष के अन्य नेताओं को गालियाँ दीं। क्या न्यूज़एंकर तो क्या भाजपा के नेता और क्या कुछ अभिनेता, सब ही 'कल के आए' इन छात्रों के संस्कारों का पोस्टमार्टम करने लगे। सबसे ज्यादा छुरी चली लड़कियों के किरदार पर। 'लड़कियाँ गाली कैसे दे सकती हैं!' यहाँ बलाघात 'गाली' पर नहीं 'लड़कियों' पर। गाली से परेशानी नहीं; मतलब है, पर उतनी नहीं, जितनी लड़कियों के गाली देने से है। क्योंकि आरएसएस-भाजपा के 'सनातन संस्कारों' की गठरी का बोझ तो आखिर लड़कियों की नाज़ुक गर्दन पर आना है। अगर ये गर्दन भी अकड़कर सिर उठा ले और अपने शोषक को गाली दे डाले तो बेचारे संस्कार कहाँ जाएँगे! तेल लेने? खैर हम इनकी तरह जेंडर आधारित भेद-भाव नहीं करेंगे। हम अपनी चर्चा को गालियों तक ही रखेंगे, वे जिन होठों से निकली हैं उनकी देह और जीवन में घुसने की चेष्टा नहीं करेंगे।

अब जिन्होंने मंटो और मासूम को न पढ़ा हो उन्हें गालियों का समाजशास्त्र समझाना टेढ़ी खीर है। उनके लिए शायद इतना ही कह सकते हैं कि जनाब, गालियाँ तो प्रेमचंद और रेणु ने भी यथार्थानुसार इस्तेमाल की हैं। और एक चेतावनी भी कि काशी का अस्सी पढ़ना उनके स्वास्थ्य के लिए बेशक हानीकारक होगा।

खैर, चलिए गालियाँ की गलियों में चलें। फ़र्ज़ कीजिए, कोई पति अपनी पत्नी को या मालिक अपने मज़दूर को मार रहा हो। मारने वाला मार-मार कर थक जाए और मार खाने वाला मार खा-खा कर। वे एक ऐसे मानवीय क्षण में पहुँच जाएँ जहाँ उन दोनों के मुँह से एक दूसरे के लिए गाली निकल जाए, वही समाज प्रसिद्ध, एक-दूसरे की माँ और बहन की ओर लक्षित गाली। तो क्या इन दोनों गालियों का सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक भार एक समान होगा। नहीं, क्योंकि शोषक और शोषित की गालियों का भार एक समान कभी हो ही नहीं सकता। एक का उद्भव असमानता आधारित अन्यायपूर्ण सत्ता के ढाँचे से होता है और दूसरे का इस ढाँचे से प्रताड़ित होकर इसके, क्षणिक ही सही, लेकिन प्रतिकार की भावना से। तो इससे मोटे तौर पर गालियों के बीच एक बँटवारा हो जाता है, शोषक और शोषित की गालियाँ।

इसके अलावा एक तीसरा वर्ग भी है गालियों का। जहाँ दो जन बेमतलब की बात पर भिड़े हों, जैसे भीड़-भड़के में गाड़ी की टक्कर या ऐसा ही कुछ। हालाँकि, इस तरह की झड़पों में भी निहित राजनीतिक-सामाजिक कुंठा होती है, लेकिन फिर भी ऐसी घटनाओं से जानवरों की उन लड़ाइयों के दृश्य ज्यादा याद आते हैं जो वर्चस्व इत्यादि के लिए लड़े जाते हैं, और जिन्हें ज्यों-के-त्यों इंसानी समाज पर लागू नहीं किए जा सकते। इसलिए इन्हें गालियों की मौजूदा बहस में शामिल करना बहुत ज़रूरी नहीं।

खैर, गालियों के सामान्य ज्ञान पर भी चर्चा होनी चाहिए। गालियाँ समाज का हिस्सा अनंत काल से रही हैं। ये हर वर्ग की भाषा में मौजूद हैं। हाँ, उच्च वर्ग और मध्य वर्ग अपनी शालीनता के पर्दे में इसे छिपा लेते हैं। और निम्न वर्ग के पास

तो अपना सिर छिपा पाने लायक छत नहीं होती तो अपनी गालियाँ कहाँ छिपाएगा। इसलिए उसकी बाकी ज़िंदगी की ही तरह उसकी गालियों से अलंकृत भाषा भी बेशुल्क नुमाइश की तरह हमेशा खुली रहती है। वर्ग के साथ-साथ आयु, लिंग, जाति आदि के तमाम खाँचे भी गालियाँ देने की रीत को नहीं बाँट सकते। लेकिन ये गालियाँ हमेशा सामाजिक रूप से कमज़ोर किए गए समूहों, जैसे महिलाओं, तथाकथित निम्न जातियों के हवाले से दी जाती हैं। इसलिए गालियाँ अपने शाब्दिक (जो सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थों से अलग नहीं किया जा सकता) अर्थ में बेशक हिंसा की भाषा है। लेकिन जैसा कि ऊपर ज़िक्र किया गया कि शोषक और शोषित के आधार पर इस हिंसा में भी एक आंतरिक बँटवारा है, जिसे नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता।



आभार : सतरूपा चक्रवर्ती व वंशिका बब्बर

आइए लौटते हैं छात्रों और युवाओं के प्रदर्शन की ओर जिसके बहाने से यह बहस एक बार फिर शुरू हुई। इस प्रदर्शन में शामिल तमाम वर्गों और जातियों से आए जेन-ज़ी बच्चों में से शायद ही कोई होगा जिसने अपने माँ-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी या पास-पड़ोस आदि में किसी को गालियाँ कहते नहीं सुना होगा। इसलिए यह कह देना कि यह युवा पीढ़ी के सांस्कृतिक ह्रास की निशानी है सरासर ग़लत होगा, और उतना ही ग़लत यह भी कि गाली देने वाली लड़कियाँ आज से पहले मौजूद नहीं थीं। अगर कोई इस मुग़ालते में है तो गाँव-शहर की किसी महिला से आत्मीय होकर बात करने की कोशिश कर ले, उसे ज़रूर एक नई गाली सीखने को मिल जाएगी। गालियाँ तो उत्तर भारत की संस्कृति में जन्म से विवाह तक के हर समारोह का हिस्सा हैं। ऐसे मौकों पर घर परिवार की महिलाएँ जी खोलकर एक-दूसरे को, खानदान के मर्दों को गालियाँ देती हैं, हँसी-मज़ाक़ करती हैं, भले ही उस समय भी उनके चेहरे लंबे घूँघट के पीछे छिपे क्यों न रहें। यह उनके लिए एक तरह से अपनी घुटन से निकलकर खुलकर बोलने का भी मौका है, और परिवार नाम की सामाजिक संस्था में अपने साथ हो रहे रोज़ाना के अन्याय पर अपनी खीझ उतारने का भी। पुरुषों में इस तरह गालियों का प्रयोग काफ़ी आम है। दोस्तों के बीच, साथ काम करने वालों के बीच, या परिवार के बीच एक-दूसरे को गाली देना या अपने से ऊपर वाले को गाली देकर नीचे ले आना बहुत ही आम दृश्य है। इस लिहाज़ से गालियाँ समाज में व्याप्त गहरी समस्याओं के

निवारण न हो पाने की स्थिति में पैदा हुई हताशा और निराशा का क्षणिक निराकरण भी हैं।

युवाओं में गालियों के प्रति आकर्षण अधिक और उनके द्वारा इसका इस्तेमाल दूसरे आयु-वर्गों के मुकाबले थोड़ा ज्यादा सजग होता है। ऐसा इसलिए भी हो सकता है कि वे अभी सामाजिक प्रवाह के उस मुहाने पर ही होते हैं जिससे वे खुद को अलग भी रखना चाहते हैं और कहीं न कहीं उसका हिस्सा भी होते हैं। वे समाज और व्यक्ति के आंतरिक ऊहापोह के चरम पर होते हैं। बाकी बाद में तो सबको थोक-पीटकर प्रवाह में किसी न किसी तरह लगभग शामिल कर ही लिया जाता है। बहरहाल, युवा चूँकि अपने अंदर इस तीखी लड़ाई को झेल रहे होते हैं इसलिए उनके जीवन के लगभग सभी पहलू युद्ध के लिए तैयारी कर रहे योद्धा जैसे होते हैं, जिसमें जाहिर है भाषा भी शामिल है। इसलिए उनकी भाषा अमूमन ज्यादा आक्रामक होना सहज है। साथ ही, वे अपने से बड़ों से इस भाषा को विरासत में लेते हैं, और यह कुछ हद तक 'कूल' भी मानी जाती है। इसीलिए पॉप-कल्चर, जैसे सिनेमा इत्यादि में भी गालियों की भाषा को सत्ता (सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-आर्थिक) से लड़ते हुए व्यक्ति की भाषा के तौर पर पेश किया जाना काफ़ी आम बात है।

अब सवाल उठता है कि क्या हमें एक समाज के तौर पर गालियों के इस यथार्थ को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेना चाहिए? नहीं, क्योंकि इंसानी समाज का पुरुषार्थ यह है कि वह हमेशा माज़ी से बेहतर आज, और आज से बेहतर मुस्तक़बिल के लिए काम करे। इसलिए कल की गालियों को आज, और आज की गालियों को कल तक ढोते चले जाना सरासर नामुनासिब है। लेकिन हमारे समाज से गालियाँ तब तक गायब नहीं होंगी जब तक उन्हें पैदा करने वाली परिस्थितियाँ बरकरार हैं। तो इन परिस्थितियों से लड़ने के लिए किस-किस चीज़ की ज़रूरत है?

इसके लिए सबसे ज़रूरी है एक ऐसा सजग समाज जो अपनी मौजूदा खामियों, समस्याओं इत्यादि को उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और प्रवाह में देखे ताकि इन्हें पैदा करने वाले तमाम संरचनात्मक ढाँचों को तबाह किया जा सके। ऐसी सजगता राजनीतिक-सामाजिक रूप से शिक्षित समाज में ही हो सकती है। और हमारे यहाँ तो 'राजनीति करना ग़लत बात है' सिखाया जाता है। यह देश जहाँ भगत सिंह जैसे युवा क्रांतिकारी हुए वहाँ छात्रों को राजनीति से दूर रहने की हिदायत न सिर्फ़ उनके परिवार, बल्कि शैक्षणिक संस्थान और सरकार तक देते हैं। और अब तो यह बात हिदायत तक सीमित नहीं रही, अब बाकायदा हलफ़नामे लिए जाते हैं छात्रों से कि वे किसी तरह की राजनीतिक गतिविधियों में शामिल नहीं होंगे। और अगर ऐसा होता है तो उन पर कार्रवाई की जाएगी जिससे न सिर्फ़ उनकी शिक्षा बल्कि पूरे करियर पर बुरा असर पड़ेगा। छात्रों का यह 'अराजनीतिकरण' करने की साज़िश यूँ तो बहुत पहले से चली आ रही है, लेकिन नवउदारवादी दौर में यह बहुत अधिक देखी जा रही है। नवउदारवाद समाज को अकेले व्यक्तियों के इकाइयों में इसीलिए बाँटता है कि न वे राजनीतिक रूप से सजग हो पाएँ और न ही एक समाज के तौर पर अपने ऊपर हो रहे शोषण से लड़ पाएँ। जब छात्रों के स्तर पर ही लोगों को 'अ-राजनीतिक' बना दिया जाएगा तो वे जीवन में आगे चल भी ऐसे ही रहेंगे और आगामी नस्लों को भी यही सीख देंगे।

मौजूदा व्यवस्था विश्वविद्यालयों से सिर्फ़ जी-हज़ूरी करके क़लम घिसने वाले पुतले निकालना चाहती है। ऐसे पुतलों का समाज आखिर कैसे अपनी भाषा पर विचार करेगा। इसलिए वह कैसे समझेगा गालियों में निहित हिंसात्मक अर्थों को, और जब वह इन्हें समझेगा ही नहीं तो इनसे लड़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

और यह सवाल न पैदा होना, भारत के मौजूदा दक्षिणपंथी शासन के लिए बहुत ज़रूरी है। ताकि भारत के समाज यह समझ ही न पाएँ कि उनकी नाक के नीचे असल खेल क्या चल रहा है। किस तरह देश अपने आज़ाद होने के बाद के सबसे बुरे दौर से गुज़र रहा है, बेरोज़गारी और घोर असमानता ने देश की अर्थव्यवस्था को जकड़ रखा है। देश की लगभग 40% संपदा आबादी के 1% के पास है जिससे हमारा देश दुनिया के सबसे असमान देशों में से एक बन गया। कैसे पिछले एक दशक में 94,000 सरकारी स्कूल बंद कर दिए गए और 2024-25 में कुल एंग्रोलमेंट में सरकारी स्कूलों का हिस्सा 70% से घटकर 49% रह गया। यह केवल देश में छाए संकट की छोटी सी झलक है। इस संकट को समझ पाने वाले समाज को इसीलिए 'अ-राजनीतिक' बनाए रखा जा रहा है कि सत्ता का सिंहासन न डोले।

इसलिए जो भाजपा और खुद प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी इन गालियों को लेकर कोप भवन में बैठे हैं, उन्हें समझना चाहिए कि गालियों की अग्नि में घी तो वे ही डालते आए हैं। पिछले कुछ सालों में ऑफ़लाइन और ऑनलाइन दुनिया में साफ़ देखा

गया है कि युवाओं के बीच गालियों का प्रचलन न सिर्फ बढ़ा है बल्कि इनकी स्वीकृति भी। भाजपा सरकार की किसी नीति का विरोध करके देख लीजिए, गालियों का महाकाव्य आपको समर्पित कर दिया जाएगा। देश की संसद तक में भाजपा के भूतपूर्व सांसद ने मुसलमानों के खिलाफ ऐसे शब्द बोले जो आम बातचीत में भी नहीं बोले जाने चाहिए। हिंदू त्योहारों और जुलूसों पर ईश्वर की स्तुति की जगह मुसलमानों के खिलाफ गालियों वाले गीत मस्जिदों के सामने डीजे पर बजाने का चलन तो मौजूदा शासन में ही चला है।

तो अपने हक की आवाज़ उठा रहे छात्रों से ही क्यों उम्मीद हो कि वे सब मर्यादाएँ मानें। बल्कि सोचने की बात तो यह है कि क्या इन्हें इन मर्यादाओं का ज्ञान भी है। और यह ज्ञान आएगा कहाँ से? राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से प्रगतिशील समाज से। ऐसा समाज जो समझ सके कि 'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच का फ़र्क कैसे पाटा जाए। लेकिन ऐसा समाज ही तो सत्ता के लिए खतरा है इसलिए उसकी सभी संभावनाओं को या तो बर्बाद कर दिया गया है और जो कुछ किसी तरह बच गई है उन्हें कारावासों के डर से या कैद करके दबाए रखने के सारे प्रयास जारी हैं। लिहाज़ा गालियों के बहाने जिस संकट से ध्यान हटाने की कोशिश की जा रही है वो जस-का-तस बना हुआ है।

लेकिन छात्रों और युवाओं के लिए यह संकट सबसे साफ़ है, उनके लिए यह आर-पार की लड़ाई है। क्योंकि उनका सारा भविष्य इस पर टिका है। इसलिए अपने फ़ौरी मुद्दों (पेपर लीक, बेरोज़गारी इत्यादि) पर उन्होंने सरकार को घेरा है। यह घेराव चूँकि इसी समाज में बने युवाओं ने किया है तो इसकी भाषा भी इसी समाज की होगी। आदर्श आंदोलन केवल आदर्श समाज में होते हैं। गाली देना बुरी बात है, मगर वे परिस्थितियाँ और भी बुरी हैं जो इन्हें जन्म देती हैं। इन परिस्थितियों के खिलाफ़ लड़े बिना सिर्फ़ गालियों के खिलाफ़ लड़ना, शब्दों पर हमला है, अर्थों पर नहीं।

-सोनाली